International Journal of Advanced Research and Development
ISSN: 2455-4030
Impact Factor: RJIF 5.24
www.advancedjournal.com
Volume 3; Issue 2; March 2018; Page No. 643-645

प्रगतिशील आलोचना एवं कबीर

प्रशान्त सिंह
वरिष्ठ अनुसंधान अध्येता, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

कबीर साहित्य की प्रखर एवं विद्रोही चेतना की पड़ताल और पहचान सबसे पहले आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने की। इसी को आधार बनाकर प्रगतिशील आलोचकों ने कबीर का पुनर्मूल्यांकन किया। प्रगतिशील आलोचकों में कबीर के मूल्यांकन को लेकर कोई एक राय नहीं है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी के तर्क और दृष्टि से प्रभावित डॉ0 रामविलास शर्मा कबीर को उतना महत्व नहीं देते, जितना सगुण काव्य के श्रेष्ठतम कवि तुलसीदास को। डॉ0 शर्मा के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल आलोचना के शिखर पुरुष हैं, जिसकी स्पष्ट झलक हमें उनकी पुस्तक ''आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिन्दी आलोचना'' में मिलती है। वे कबीर साहित्य का मूल्यांकन उन प्रगतिशील मूल्यों को आधार बनाकर नहीं करते, जो वास्तव में कबीर को प्रगतिशील सिद्ध करती हैं। बल्कि वे एक तरह से आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा की गई समीक्षा का बचाव करते हैं। वे कहते हैं कि शुक्ल जी पर जो आरोप सन्त साहित्य को लेकर लगाये गये हैं, वे निराधार हैं, जबकि ''असलियत यह है कि उन्होंने हिन्दुओं, मुसलमानों को मिलाने वाली निम्न वर्गों में आत्म–गौरव का भाव जगाने वाली उसकी भूमिका को पूरी तरह स्वीकार किया है।''[1] रामविलास शर्मा आगे कहते हैं कि शुक्ल जी सन्त साहित्य का महत्व नाथपंथ से प्रभावित होने में नहीं बल्कि जनता को उसके प्रभाव से मुक्त करने में मानते हैं। यहाँ वे एक तरह से तुलसीदास के पक्ष में आचार्य शुक्ल द्वारा की गई समीक्षा का बचाव करते हैं, जिसके आधार पर उन पर परम्परावादी, यथास्थितिवादी, मर्यादावादी, ब्राह्मणवादी, वर्ण व्यवस्था के समर्थक आदि अनेक आक्षेप लगाये जाते हैं। वे कहते हैं कि– ''तुलसीदास के मुकाबले में शुक्ल जी ने सूर, जायसी और कबीर को भी नीचा स्थान दिया है। यह ठीक है तुलसी का भाव–क्षेत्र अधिक व्यापक है। कबीर–सूर आदि से अधिक वह मानव–करुणा के कवि हैं। वह मानव के दुःख से व्यथित ही नहीं है, वह अपने पात्रों में सक्रिय प्रतिरोध के गुण भी चित्रित करते हैं।''[2]

डॉ0 शर्मा यहीं पर नहीं रूकते बल्कि शुक्ल जी की मान्यताओं को पुष्ट करने में उनका कदम से कदम मिलाकर सहयोग देते दिखते हैं। वे कबीर को निस्तेज करने की साजिश में जायसी से भी नीचा दिखा देते हैं। इसके लिए वे शुक्ल जी की रचना में 'प्रबन्ध–कर्म' सम्बन्धी मान्यता के आधार पर जायसी को कबीर से बड़ा कवि सिद्ध कर देते हैं। साथ ही रामविलास शर्मा तुलसी को ज्ञानी और कबीर को भक्त कहकर उनकी कविता के सामाजिक एवं क्रांतिकारी पक्ष को नजर अन्दाज कर देते हैं। कबीर को भक्त तथा तुलसी का ज्ञानी घोषित करना उन सगुणियों की चाल थी, जिसमें वे सफल भी रहे। इसी चाल को समझकर ही शायद डॉ0 चौथीराम कहते हैं कि– ''अपने को मार्क्सवादी कहने वाला कोई लेखक या आलोचक यदि तुलसीदास के रामराज्य को उस समय की न्याय संगत व्यवस्था घोषित करने पर आमादा हो तो मानना पड़ेगा कि संस्कार सचमुच इतना प्रबल होता है कि मार्क्सवादी विवेक भी उसे दबोच पाने में असमर्थ है।''[3]

इस संबंध में भक्ति काव्य संबंधी सबसे सारगर्भित व्याख्या मुक्तिबोध प्रस्तुत करते हैं जब वे कहते हैं कि– ''किसी भी साहित्य को हमें तीन दृष्टियों से देखना चाहिए। एक तो यह कि वह किन सामाजिक और मनोवैज्ञानिक शक्तियों से उत्पन्न है अर्थात् वह किन शक्तियों का परिणाम है, किन सामाजिक–सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है? दूसरे, यह कि उसका अन्तः स्वरूप क्या है, किन प्रेरणाओं और भावनाओं ने उसके आंतरिक तत्व रूप रूपायित किये हैं ? तीसरे, उसके प्रभाव क्या हैं, किन सामाजिक शक्तियों ने उसका उपयोग या दुरूपयोग किया है और क्यों? साधारण जन के किन मानसिक तत्वों को उसने विकसित या नष्ट किया है?''[4] मुक्तिबोध रामाश्रयी शाखा के अन्तर्गत तुलसी की कविता में व्याप्त वर्ण, धर्म, जातिगत रूढ़ियों की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि– ''साधारण जनों के लिए कबीर का सदाचारवाद तुलसी के संदेश से अधिक क्रांतिकारी था। तुलसी को भक्ति का यह मूल तत्व तो स्वीकार करना ही पड़ा कि राम के सामने सब बराबर है, किंतु चूंकि राम ही ने सारा समाज उत्पन्न किया है, इसलिए वर्णाश्रम धर्म और जातिवाद को तो मानना ही होगा। पं0 रामचन्द्र शुक्ल जो निर्गुण मत को कोसते हैं, वह यों ही नहीं। इसके पीछे उनकी सारी पुराण मतवादी चेतना बोलती है।''[5] मुक्तिबोध ने यहां समूचे भक्ति आंदोलन के स्वरूप पर प्रश्न खड़ा किया है, जब उन्होंने कहा कि– ''क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी प्रभावशाली और महत्वपूर्ण कवि निम्न जातीय शूद्र वर्गों से नहीं आया। क्या यह एक महत्वपूर्ण तथ्य नहीं है कि कृष्ण भक्ति शाखा के अन्तर्गत रसखान और रहीम जैसे हृदयवान मुस्लिम कवि बराबर रहे आये, किंतु रामभक्ति शाखा के अन्तर्गत एक भी मुसलमान और शूद्र कवि प्रभावशाली एवं महत्वपूर्ण रूप से अपनी काव्यात्मक प्रतिभा विशद नहीं कर सका? जबकि यह एक स्वतः सिद्ध बात है कि निर्गुण शाखा के अंतर्गत ऐसे लोगों को अच्छा स्थान प्राप्त था।''[6] इसी आधार पर मुक्तिबोध इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि क्यों यह भक्ति आंदोलन अपनी चरम परिणति पर पहुंचने से पूर्व ही विफल हो गया। ''जो भक्ति आंदोलन जन साधारण से शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टर पन के विरूद्ध जन साधारण की सांस्कृतिक आकांक्षाए बोलती थीं, उसका 'मनुष्य सत्य' बोलता था, उसी भक्ति आंदोलन को उच्चवर्गीय ने आगे चलकर अपनी तरह का बना लिया और उससे समझौता करके फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनन्तर जनता के अपने तत्वों को उनमें से निकालकर उन्होंने अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।''[7] मुक्तिबोध ने किसी भी रचनाकार को समझने की एक समाजशास्त्रीय दृष्टि दी। मुक्तिबोध के पहले परंपरागत आलोचना

ने शास्त्रीय प्रतिमानों पर किसी रचनाकार का मूल्यांकन किया, जिसमें सामाजिक शक्तियों को सदैव नजर अन्दाज करने के कारण ही मुक्तिबोध से पहले संत साहित्य एवं विशेषतः कबीर आलोचना के केंद्र में स्थान नहीं पाते। जिसकी मुक्तिबोध सही पहचान करते हैं और लिखते हैं कि– ''किसी भी साहित्य का वास्तविक विश्लेषण हम तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि हम उन गतिमान सामाजिक शक्तियों को नहीं समझते, जिन्होंने मनोवैज्ञानिक, सांस्कृतिक धरातल पर आत्मप्रकटीकरण किया है। कबीर, तुलसीदास आदि संतों के अध्ययन के लिए यह सर्वाधिक आवश्यक है। मैं इस ओर प्रगतिवादी क्षेत्रों का ध्यान आकार्षित करना चाहता हूँ।''[8]

मुक्तिबोध के बाद कबीर पर तर्क युक्त टिप्पणी डॉ0 नामवर सिंह अपने दो निबंधों 'कबीर का सच' एवं 'कबीर का दुःख' में करते हैं। वे कबीर को आकाश धर्मा अनल पक्षी के रूप में देखते हैं, जो सब कुछ जला देना चाहता है। नामवर सिंह जी के कहने का तात्पर्य जहां तक मुझे समझ में आ रहा है, वो ये कि कबीर समाज में जो स्थिति है, उससे संतुष्ट नहीं है, किसी भी स्तर पर चाहे वह धार्मिक हो, सामाजिक हो, या आर्थिक हो। कबीर को किसी पंथ, सम्प्रदाय, जाति, धर्मादि से कोई सरोकार नहीं हैं। वे सम्पूर्ण मानवता की बात करते है। डॉ0 नामवर सिंह, कबीर के काव्य को विराट नकार का काव्य कहते है, क्योंकि वे देखते हैं कि कबीर को कुछ नहीं भाता सिवाय निर्गुण के तथा वे सारी व्यवस्था के प्रति असहमति एवं प्रतिपक्ष रचते दिखते हैं। नामवर सिंह कबीर की इसी समाज चेता की प्रवृत्ति के बरक्स सामाजिक चेतना को ही महत्व देते हैं। वे कबीर की रचनाओं में व्याप्त दुःख को सामाजिक दुःख मानते हुए कहते हैं कि– ''यह सामाजिक दुःख इतना उत्कट है कि कबीर जैसे संवेदनशील संत को आध्यात्मिक क्षणों में भी उद्वेलित करता रहता है। एक तरह से यह भक्तिभाव के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थ का हस्तक्षेप है। तात्पर्य यह है कि कबीर के दुःख का एक निश्चित सामाजिक आधार है।''[9]

नामवर सिंह कहते हैं कि शायद इसीलिए वे एक कवि हैं, सिर्फ संत नहीं (जैसा कि परम्परावादी आलोचक मानते हैं।) खंजड़ी लेकर घूमने वाले संत तो और भी है, ढेरों किंतु यह नहीं भूलना चाहिए कि उदास फिरने वाले कबीर का यह दुःख बहुत विस्फोटक एवं विध्वंसक है। वस्तुतः यह आत्मा की धधकती हुई आग है, जिसमें इस भ्रष्ट संसार को खाक कर देने की अकूत ताकत है। कबीर का सबद आग है और यह दुःख विद्रोह।

इसी क्रम में शिवकुमार मिश्र जी आते हैं जो कबीर की कविता का मूल्यांकन उसकी समग्रता एवं वस्तुपरकता के रूप में करने की बात करते हैं। वे आचार्य शुक्ल की कुछ मान्यताओं से सहमति प्रकट करते हैं। जैसे कि वे कहते हैं कि– रहस्यवाद के बारे में शुक्ल जी की आपत्तियां बुनियादी तौर पर सही है। रहस्यवाद जैसे किसी भी तत्व चिंतन से हमारी भी सहमति नहीं है। जीव और ब्रह्म का गोरखधंधा दर्शन की जमीन पर ही चले, परंतु उसको काव्य की जमीन पर लाने के हिमायती हम भी नहीं हैं।''[10] वे आगे कहते हैं कि शुक्ल जी ने स्वयं इस तथ्य को स्वीकार किया है कि– ''कबीर ने नाथों सिद्धों के प्रभाव से शुष्क हुए ह्रदयों को सरस बनाया, तब क्यों उन्हें कबीर के इन उद्गारों को, जो कबीर की सर्जना में दूर–दूर तक व्याप्त है, कविता कहने में संकोच हुआ।''[11] इसका कारण शिवकुमार मिश्रा जी आचार्य शुक्ल के उन्हीं पारम्परिक, शास्त्रीय प्रतिमानों एवं पूर्वाग्रहों को ठहराते हैं। शिवकुमार मिश्र जी आगे कहते है कि– जिन शास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर कबीर को सबसे कमजोर एवं छोटा आंका जाता है, उसी के उलट समाजशास्त्रीय प्रतिमानों के आधार पर यदि कबीर को देखें तो कबीर की सारी कविताएं उन्हें आम जनता के बीच सबसे प्रबल रूप में स्थापित करती हैं। वे लिखते हैं कि– ''कबीर उनके (आचार्य शुक्ल) लिए समाज सुधारक इसलिए नहीं हैं कि वे परम्परागत वेद शास्त्र विहित समाजव्यवस्था को तोड़–फोड़ देना चाहते हैं जिसके प्रतिसंस्कारतः शुक्ल जी का लगाव था। वे हिंदू धर्म के तमाम सारे ताम झाम के खिलाफ हैं, वे अवतारवाद हो अथवा और कुछ जिसके प्रति शुक्ल जी की अनुरक्ति है। आर्य शास्त्रानुमोदित चली आ रही व्यवस्था को अपने विवेकवाद के तहत शुक्ल जी उदार जरूर बनाना चाहते हैं, न्यायोचित भी करना चाहते हैं, किंतु उनमें बुनियादी फेरबदल कदापि नहीं चाहते, जबकि कबीर का सारा विद्रोह बुनियाद के खिलाफ ही है।''[12]

वहीं जिस प्रकार 'विजयदेव नारायण साही', जायसी का मूल्यांकन एक सूफी संत के रूप में नहीं बल्कि उसके कवि रूप में करते हैं, उसी को आधार बनाकर 'पुरूषोत्तम अग्रवाल' अकथ कहानी प्रेम की में कबीर को कवि का दर्जा देते हैं, जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा शुक्ल प्रभृत आलोचकों ने नजर अंदाज कर दिया था। प्रगतिशील आलोचना का विकसित रूप समकालीन विमर्श है, जिसके केंद्रीय सवाल के रूप में हमारे सामने दलित एवं स्त्री आते हैं। दलित विमर्श प्रतिरोध का साहित्य है वह पुरानी रूढ़ियों, वेद, वर्ण व्यवस्था, जातिप्रथा, छुआछूत आदि का विरोध करता है। दलित विमर्श की लगभग ये सभी बातें कबीर काव्य में दिखाई पड़ती है, चाहे वह उनके अस्मिता का प्रश्न हो या उनसे जुड़ी अन्य सारी बातें।

इसी दलित चिंतन की परम्परा में डॉ0 धर्मवीर आते हैं जो कबीर को लेकर अब तक की सबसे विचारोत्तेजक बहस छेड़ते हैं। वे डॉ0 हजारीप्रसाद द्विवेदी समेत प्रायः सभी आलोचकों द्वारा किए गये कबीर के विवेचन को ब्राह्मणवादी करार देते हैं। इसके लिए वे कई सटीक तर्क भी देते हैं। जिन्हें हम उनकी पुस्तक– ''कबीर के आलोचक, भाग 1, 2 एवं 3 तथा ''कबीर नई सदी में के तीन खण्डों में देख सकते हैं। डॉ0 धर्मवीर कहते हैं कि द्विवेजी जी द्वारा कबीर को मूलतः भक्त कवि कहना तथा उनके सुधार संबंधी कविताओं को बाई प्रोडक्ट अर्थात् फोकट का माल कहना तर्क संगत नहीं है, क्योंकि कबीर की कविताओं की मूल विशेषता उसके सामाजिक एवं धार्मिक संघर्षों के कारण ही है। डॉ0 धर्मवीर कहते है कि द्विवेदीजी जी ने कबीर को इस रूप में प्रस्तुत किया है कि कबीर का वेद विरोधी विस्फोट भीतर ही भीतर फ्यूज हो गया है। जिस कबीर के चितंन एवं व्यक्तित्व का निर्माण विरोध एवं संघर्षों के बीच से हुआ हो, जो कबीर समाज की जकड़बंदियों, व्यक्ति की लाचारी देखकर रो उठते हैं, जिस कबीर के पीछे 'कबीर पंथ' के रूप में समाज का एक बड़ा हिस्सा उठ खड़ा हो उसे डॉ0 द्विवेदी जी द्वारा व्यष्टिवादी कहना किस तरह से उचित है? वीरभारत तलवार ने भी इस बहस में भाग लिया तथा ''कबीर पर कब्जे की लड़ाई'' शीर्षक से लेख लिखा। जिसमें उन्होंने दिखाया है कि किस प्रकार कबीर को लेकर खेमेबाजी की जा रही है। सब कबीर को अपने समुदाय में लेने या जोड़ने का जाल बुन या फेंक रहे हैं।

इसी कड़ी में चौथीराम यादव भी आते हैं जो कबीर तथा भक्ति आंदोलन को दलित दृष्टि से देखने के हिमायती हैं। वे कहते हैं कि गौतम बुद्ध का सामाजिक आंदोलन और मध्यकालीन भक्ति आंदोलन के बाद यह उत्तशती का महत्वपूर्ण आंदोलन है। जिस रक्त–गोत्र की शुद्धता और वर्णगत श्रेष्ठता के मिथ्यादम्भ पर आधारित ब्राह्मणवादी समाज की अमानवीयता का तीखा प्रतिरोध और समतावादी समाज (जिसमें सभी मनुष्य समान हों तथा सभी का एक मानव धर्म हो) की हिमायत कबीर अपनी कविता में करते हैं– ''यही केंद्रीय स्वर दलित विमर्श का भी है। इसलिए आज का

दलित लेखन अपनी विशिष्टताओं के साथ किंचित सीमाओं के बावजूद मुख्य धारा का ही लेखन है। दलित मुक्ति और स्त्री मुक्ति के प्रश्न ही मानव मुक्ति के प्रस्थान बिंदु हैं। अतः दलितों और स्त्रियों के अस्मिता आंदोलनों की उपेक्षा करना तो किसी मानव मुक्ति की कल्पना की जा सकती है और न ही मानव मुक्ति के वृहत्तर जीवन मूल्यों से जुड़े बिना अस्मिताओं के ये आन्दोलन अपने व्यापक लक्ष्य को ही पा सकते हैं। मानव–मुक्ति, मानव एकता, मानव समानता यही सारे लक्ष्य तो कबीर के भी थे, जो उन्हें आज भी हमारे बीच प्रासंगिक बनाये हुए हैं।''

सन्दर्भ

1. डॉ0 रामविलास शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और हिंदी आलोचना, पृ0 65, संस्करण–2009, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली
2. वही, पृ0 108
3. चौथीराम यादव, लोकधर्मी साहित्य की दूसरी धारा, पृ0 40, प्रथम संस्करण–2013, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा0) लिमिटेड, नई दिल्ली
4. नेमिचन्द्र जैन, सं0 मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड– 5, पृ0 293, संस्करण–2005, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
5. वही, पृ0 292
6. वही, पृ0 292
7. वही, पृ0 292
8. वही, पृ0 289
9. नामवर सिंह, संकलित निबंध, कबीर का दुःख, पृ0 113, संस्करण–2011, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली
10. शिवकुमार मिश्र, भक्ति आंदोलन और भक्ति काव्य, पृ0 99, लोकभारती संस्करण–2010, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद
11. वही, पृ0 98
12. वही, पृ0 28।